शोधामृत
(कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की अंतर्राष्ट्रीय सहकर्मी समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ISSN : 3048-9296 (Online)
3049-2890 (Print)
IIFS Impact Factor-5.375
Vol.-3; issue-3 (July-Sept.) 2026
Page No- 44-47
©2026 Shodhaamrit
https://shodhaamrit.gyanvividha.com

Author's :

शुभम् यादव
शोधार्थी, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय.

Corresponding Author :

शुभम् यादव
शोधार्थी, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय.

21वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में विस्थापन का विमर्श : वैश्वीकरण, बाज़ार और पहचान का संकट

शोध सार : इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यास भारतीय समाज में घटित हो रहे व्यापक सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों का एक सशक्त दस्तावेज़ हैं। वैश्वीकरण, उदारीकरण तथा बाज़ारवाद ने जहाँ एक ओर आर्थिक विकास, तकनीकी प्रगति और वैश्विक संपर्क के नए अवसर उपलब्ध कराए हैं, वहीं दूसरी ओर इन प्रक्रियाओं ने विस्थापन, सांस्कृतिक विघटन, अस्मिता के संकट, सामाजिक विषमता तथा मानवीय संबंधों के क्षरण जैसी गंभीर समस्याओं को भी जन्म दिया है। समकालीन हिंदी उपन्यास इन परिवर्तनों का केवल यथार्थपरक चित्रण ही नहीं करते, बल्कि इनके अंतर्विरोधों, सत्ता-संरचनाओं तथा सामाजिक प्रभावों का आलोचनात्मक विश्लेषण भी प्रस्तुत करते हैं। वर्तमान समय में विस्थापन केवल भौगोलिक स्थानांतरण तक सीमित नहीं रह गया है यह मनुष्य की सांस्कृतिक पहचान, भाषिक अस्मिता, सामाजिक संबंधो से जुड़ा हुआ व्यापक विमर्श बन चुका है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने विकास की जिस अवधारणा को स्थापित किया है, उसने आदिवासी, किसान, श्रमिक, स्त्री तथा अन्य हाशिए के समुदायों के जीवन को गहरे स्तर पर प्रभावित किया है। खनन परियोजनाएँ, औद्योगिकीकरण, विशेष आर्थिक क्षेत्र तथा महानगरीय विस्तार ने लाखों लोगों को उनकी भूमि, जल, जंगल और पारंपरिक आजीविका से वंचित कर दिया है। फलस्वरूप व्यक्ति केवल अपने भूगोल से ही नहीं, बल्कि अपनी स्मृतियों, भाषा, संस्कृति और सामुदायिक चेतना से भी दूर होता चला गया है। इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यास इस समूची प्रक्रिया का संवेदनात्मक तथा वैचारिक विश्लेषण करते हुए यह प्रश्न उठाते हैं कि यदि विकास मनुष्य की गरिमा, सामाजिक न्याय तथा सांस्कृतिक विविधता की कीमत पर प्राप्त होता है, तो उसकी सार्थकता क्या रह जाती है। प्रस्तुत शोध आलेख में समकालीन हिंदी उपन्यासों के आधार पर वैश्वीकरण, बाज़ारवाद तथा पहचान के संकट के संदर्भ में विस्थापन के विविध आयामों का विश्लेषण किया गया है।

बीज शब्द : विस्थापन, वैश्वीकरण, बाज़ारवाद, अस्मिता, पहचान, सांस्कृतिक संकट, भूमंडलीकरण, समकालीन हिंदी उपन्यास।

मूल आलेख : इक्कीसवीं सदी का सामाजिक परिदृश्य ,परिवर्तन, तकनीकी विकास, पूँजी के वैश्विक विस्तार तथा मुक्त बाज़ार की नीतियों के कारण अनवरत रूपांतरित हो रहा है। भारत में 1991 के आर्थिक उदारीकरण के पश्चात वैश्वीकरण, निजीकरण तथा उदारीकरण की प्रक्रियाओं ने आर्थिक विकास के नए प्रतिमान निर्मित किए। इन नीतियों ने जहाँ आर्थिक प्रगति, निवेश, तकनीकी उन्नति और वैश्विक संपर्क के अवसरों को विस्तृत किया, वहीं दूसरी ओर सामाजिक विषमता, सांस्कृतिक विघटन तथा व्यापक विस्थापन जैसी जटिल समस्याओं को भी जन्म दिया। विकास का वर्तमान मॉडल मुख्यतः पूँजी, उत्पादन तथा उपभोग पर आधारित है, जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य, उसकी संवेदनाएँ तथा उसके सामाजिक अनुभव विकास की मुख्यधारा से क्रमशः हाशिए पर चले गए हैं। समकालीन हिंदी उपन्यास इसी यथार्थ का आलोचनात्मक पाठ प्रस्तुत करते हैं। वे यह उद्घाटित करते हैं कि विकास का चमकदार आख्यान अपने भीतर अनेक अंतर्विरोधों को समेटे हुए है, जिनमें विस्थापन, सांस्कृतिक विघटन, अस्मिता का संकट तथा मानवीय संबंधों का क्षरण प्रमुख हैं। इस प्रकार इक्कीसवीं सदी का हिंदी उपन्यास केवल सामाजिक यथार्थ का दर्पण नहीं है, बल्कि वह आधुनिक विकास मॉडल की मानवीय सीमाओं और अंतर्विरोधों का गंभीर विश्लेषण भी प्रस्तुत करता है।

विस्थापन आधुनिक समय की सबसे जटिल सामाजिक, सांस्कृतिक और अस्तित्वगत समस्याओं में से एक है। सामान्यतः इसे किसी व्यक्ति अथवा समुदाय के अपने मूल निवास स्थान से हटकर किसी अन्य स्थान पर बस जाने की प्रक्रिया के रूप में समझा जाता है, किंतु साहित्यिक तथा समाजशास्त्रीय दृष्टि से इसका अर्थ इससे कहीं अधिक व्यापक है। जब कोई व्यक्ति अपनी भूमि, भाषा, संस्कृति, सामाजिक संबंधों, स्मृतियों तथा पारंपरिक जीवन-मूल्यों से कटने लगता है, तब उसका विस्थापन केवल भौगोलिक नहीं रह जाता वह मानसिक, सांस्कृतिक और अस्तित्वगत संकट का रूप धारण कर लेता है। यही कारण है कि समकालीन हिंदी उपन्यास विस्थापन को केवल स्थान परिवर्तन की घटना नहीं मानते, बल्कि उसे मनुष्य की अस्मिता, सांस्कृतिक निरंतरता तथा सामाजिक अस्तित्व से जुड़े बहुआयामी संकट के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इन उपन्यासों में बार-बार 'घर', 'गाँव', 'स्मृति', 'मातृभाषा', 'जल-जंगल-ज़मीन' तथा 'सामुदायिक जीवन' जैसे प्रतीक उभरकर सामने आते हैं, जो केवल अतीत के प्रति मोह के नहीं, अपितु मनुष्य की सांस्कृतिक पहचान और अस्तित्व के प्रतीक हैं। समकालीन हिंदी उपन्यास यह स्थापित करते हैं कि विकास तभी सार्थक कहा जा सकता है, जब वह मनुष्य की गरिमा, सांस्कृतिक विविधता और सामाजिक न्याय को समान रूप से महत्व प्रदान करे।

वैश्वीकरण के प्रभावों का विश्लेषण करते हुए अनेक समाजशास्त्रियों और चिंतकों ने यह स्पष्ट किया है कि विकास की वर्तमान अवधारणा केवल आर्थिक वृद्धि तक सीमित नहीं हो सकती। डेविड हार्वे का मत है कि नवउदारवादी विकास मॉडल पूँजी के केंद्रीकरण को बढ़ावा देता है, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक असमानता और विस्थापन की समस्याएँ तीव्र होती हैं। वहीं अमर्त्य सेन विकास को केवल आय वृद्धि नहीं, बल्कि मनुष्य की स्वतंत्रता, गरिमा और अवसरों के विस्तार से जोड़ते हैं। इस दृष्टि से जब विकास की योजनाएँ स्थानीय समुदायों की संस्कृति, जीवन-पद्धति और अधिकारों की उपेक्षा करती हैं, तब वे सामाजिक न्याय के उद्देश्य से दूर चली जाती हैं। समकालीन हिंदी उपन्यास इसी अंतर्विरोध को गहन संवेदनात्मकता के साथ अभिव्यक्त करते हैं। इसी क्रम मे रणेन्द्र का उपन्यास ग्लोबल गाँव के देवता समकालीन हिंदी साहित्य में आदिवासी विस्थापन की त्रासदी का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ है। उपन्यास में बहुराष्ट्रीय कंपनियों, खनन परियोजनाओं और तथाकथित विकास योजनाओं के कारण आदिवासी समुदायों के जल, जंगल और ज़मीन से बेदखल होने की प्रक्रिया को अत्यंत यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत किया गया है। लेखक यह स्पष्ट करते हैं कि विकास का वर्तमान मॉडल स्थानीय समुदायों की सांस्कृतिक अस्मिता, पारंपरिक ज्ञान और जीवन-पद्धति की उपेक्षा करता है। परिणामस्वरूप आदिवासी केवल अपनी भूमि ही नहीं खोते, बल्कि अपनी सामुदायिक स्मृतियों, सांस्कृतिक पहचान और आत्मसम्मान से भी वंचित हो जाते हैं। इस प्रकार यह उपन्यास विस्थापन को आर्थिक समस्या से आगे बढ़ाकर सांस्कृतिक और अस्तित्वगत संकट के रूप में स्थापित करता है। चित्रा मुद्गल का उपन्यास आवाँ श्रमिक वर्ग के जीवन-संघर्ष और महानगरीय

विस्थापन का सशक्त आख्यान है। औद्योगिक व्यवस्था और पूँजीवादी विकास के कारण श्रमिकों का जीवन असुरक्षित होता जाता है। रोजगार की तलाश में गाँव से शहर आने वाला व्यक्ति आर्थिक अवसर तो प्राप्त करता है, किंतु सामाजिक सुरक्षा, पारिवारिक आत्मीयता और सांस्कृतिक आधार से दूर होता चला जाता है। उपन्यास यह संकेत करता है कि आधुनिक महानगर व्यक्ति को सुविधाएँ तो देता है, परंतु उसे मानसिक अकेलेपन और असुरक्षा की स्थिति में भी पहुँचा देता है। इस दृष्टि से आवाँ आर्थिक विकास और मानवीय मूल्यों के बीच उत्पन्न अंतर्विरोधों को प्रभावशाली ढंग से उद्घाटित करता है।

समकालीन हिंदी उपन्यासों में विस्थापन का प्रश्न केवल भौगोलिक स्थानांतरण तक सीमित नही है यह स्त्री, दलित, आदिवासी तथा अन्य वंचित समुदायों के सामाजिक, सांस्कृतिक और अस्तित्वगत संघर्षों से गहरे रूप में जुड़ जाता है। यह हाशिये की आवाजों के हक में है ।इक्कीसवीं सदी का हिंदी उपन्यास इस तथ्य को रेखांकित करता है कि समाज के प्रत्येक वर्ग का विस्थापन एक जैसा नहीं होता। वंचित वर्ग में स्त्रियाँ और भी वंचित हैं। सामाजिक संरचना, जाति, वर्ग, लिंग और आर्थिक स्थिति के आधार पर विस्थापन के अनुभव भी अलग-अलग रूप ग्रहण करते हैं। इसलिए समकालीन उपन्यासकार विस्थापन को केवल विकास परियोजनाओं का परिणाम मानकर नहीं चलते, बल्कि उसे सामाजिक असमानता, सत्ता-संबंधों और सांस्कृतिक वर्चस्व की प्रक्रिया के रूप में भी देखते हैं। इस दृष्टि से विस्थापन का विमर्श सामाजिक न्याय और लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रश्न से गहराई से जुड़ जाता है।

स्त्री-विमर्श के संदर्भ में देखा जाए तो आधुनिक समाज में स्त्री अनेक स्तरों पर विस्थापन का अनुभव करती है। विवाह, रोजगार, शिक्षा, पारिवारिक अपेक्षाएँ तथा पितृसत्तात्मक व्यवस्था उसे बार-बार अपनी आकांक्षाओं और आत्मपहचान से समझौता करने के लिए विवश करती हैं। महानगरीय जीवन ने स्त्री को आर्थिक स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता के नए अवसर प्रदान किए हैं, लेकिन उसके सामने असुरक्षा, लैंगिक भेदभाव, कार्यस्थल की चुनौतियाँ और भावनात्मक अकेलेपन जैसी नई समस्याएँ भी उत्पन्न हुई हैं। समकालीन हिंदी उपन्यास इन जटिल परिस्थितियों का चित्रण करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि स्त्री का विस्थापन केवल स्थान परिवर्तन नहीं, बल्कि उसके अस्तित्व, अस्मिता और स्वायत्तता से जुड़ा हुआ प्रश्न है। इस प्रकार स्त्री-विमर्श विस्थापन को मानवीय गरिमा तथा समानता के व्यापक संदर्भ में स्थापित करता है। इस प्रकार ह्म कह सकते हैं कि समस्याएं समाप्त नहीं हुई हैं अपितु उनका रुप बदला है।

इसी प्रकार दलित और आदिवासी समुदायों का विस्थापन भारतीय समाज की सबसे गंभीर सामाजिक समस्याओं में से एक है। विकास परियोजनाओं, खनन उद्योगों, बाँधों, औद्योगिक क्षेत्रों तथा शहरी विस्तार के कारण सबसे अधिक प्रभावित वही समुदाय हुए हैं, जिनका जीवन जल, जंगल और ज़मीन पर आधारित रहा है। भूमि अधिग्रहण के परिणामस्वरूप ये समुदाय अपनी पारंपरिक आजीविका, सांस्कृतिक विरासत और सामाजिक संरचना से वंचित हो जाते हैं। आर्थिक संसाधनों से दूर होने के साथ-साथ उनकी भाषाएँ, लोकपरंपराएँ और सांस्कृतिक स्मृतियाँ भी संकटग्रस्त हो जाती हैं। समकालीन हिंदी उपन्यास इस यथार्थ को अत्यंत मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करते हुए यह स्थापित करते हैं कि विकास तभी न्यायपूर्ण कहा जा सकता है, जब उसमें स्थानीय समुदायों की सहभागिता, उनके अधिकारों की सुरक्षा और सांस्कृतिक विविधता का संरक्षण सुनिश्चित किया जाए।

समकालीन हिंदी उपन्यासों में विस्थापन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष मानसिक और सांस्कृतिक विस्थापन भी है। आधुनिक तकनीक, डिजिटल संस्कृति, प्रवासन, अस्थायी रोजगार तथा उपभोक्तावादी जीवन-शैली ने मनुष्य के जीवन को सुविधाजनक अवश्य बनाया है, किंतु साथ ही उसे सामाजिक संबंधों और सांस्कृतिक जड़ों से भी दूर कर दिया है। व्यक्ति अपने परिवार, समुदाय और परंपराओं से कटकर आभासी संसार का हिस्सा बनता जा रहा है। इस प्रक्रिया में भाषा, लोक-संस्कृति, स्मृतियाँ और सामूहिक जीवन-दृष्टि निरंतर क्षीण होती जा रही हैं। समकालीन हिंदी उपन्यास इस बदलती हुई सामाजिक संरचना का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि आधुनिक सभ्यता का सबसे बड़ा संकट केवल आर्थिक नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और मानवीय भी है। इसलिए विकास की

किसी भी अवधारणा का मूल्यांकन केवल आर्थिक उपलब्धियों के आधार पर नहीं, बल्कि उसके मानवीय परिणामों के आधार पर किया जाना चाहिए। समकालीन हिंदी उपन्यासों में विस्थापन का प्रश्न पर्यावरणीय संकट से भी गहरे रूप में जुड़ा हुआ दिखाई देता है। बड़े बाँधों, खनन परियोजनाओं, औद्योगिकीकरण और महानगरीय विस्तार ने प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर समुदायों के जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। जल, जंगल और ज़मीन से बेदखली केवल आर्थिक संकट उत्पन्न नहीं करती, बल्कि सांस्कृतिक स्मृतियों, लोकपरंपराओं और सामुदायिक संबंधों को भी विखंडित करती है। इसलिए समकालीन उपन्यासकार विकास और पर्यावरण के बीच संतुलन की आवश्यकता पर बल देते हैं तथा मनुष्य-केंद्रित विकास की अवधारणा को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

समकालीन हिंदी उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे विस्थापन को केवल पीड़ा और त्रासदी के रूप में प्रस्तुत नहीं करते, बल्कि उसके भीतर प्रतिरोध, संघर्ष और पुनर्निर्माण की संभावनाओं को भी रेखांकित करते हैं। हाशिए के समुदाय अपने अधिकारों, संस्कृति और अस्मिता की रक्षा के लिए निरंतर संघर्षरत दिखाई देते हैं। इन उपन्यासों में लोकतांत्रिक चेतना, सामाजिक न्याय, पर्यावरण संरक्षण, सांस्कृतिक विविधता तथा मानवीय गरिमा जैसे मूल्यों को विशेष महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार समकालीन हिंदी उपन्यास आधुनिक विकास मॉडल की आलोचना करते हुए एक ऐसे समाज की कल्पना प्रस्तुत करते हैं, जहाँ आर्थिक प्रगति के साथ-साथ सामाजिक समानता, सांस्कृतिक संरक्षण और मानवीय मूल्यों का भी समुचित विकास हो। वस्तुतः इक्कीसवीं सदी का हिंदी उपन्यास विस्थापन को केवल पीड़ा या त्रासदी के रूप में नहीं देखता, बल्कि उसके भीतर प्रतिरोध, पुनर्निर्माण और सांस्कृतिक पुनर्स्थापन की संभावनाओं को भी रेखांकित करता है। हाशिए के समुदाय अपने अधिकारों, भाषा, संस्कृति और जीवन-मूल्यों की रक्षा के लिए निरंतर संघर्ष करते दिखाई देते हैं। यही कारण है कि समकालीन हिंदी उपन्यास केवल यथार्थ का चित्रण नहीं करते, बल्कि एक अधिक न्यायपूर्ण, समतामूलक और मानवीय समाज की कल्पना भी प्रस्तुत करते हैं

निष्कर्ष : उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि इक्कीसवीं सदी का हिंदी उपन्यास विस्थापन को केवल स्थानांतरण की घटना के रूप में नहीं, बल्कि आधुनिक सभ्यता के बहुआयामी संकट के रूप में प्रस्तुत करता है। वैश्वीकरण, उदारीकरण और बाज़ारवाद ने जहाँ आर्थिक विकास तथा तकनीकी उन्नति के नए अवसर उपलब्ध कराए हैं, वहीं उन्होंने सामाजिक विषमता, सांस्कृतिक विघटन, अस्मिता के संकट तथा मानवीय संबंधों के क्षरण को भी गहरा किया है। समकालीन हिंदी उपन्यास इन अंतर्विरोधों का संवेदनात्मक तथा वैचारिक विश्लेषण करते हुए यह स्थापित करते हैं कि विकास की कोई भी अवधारणा तभी सार्थक हो सकती है,जब उसमें सामाजिक न्याय, सांस्कृतिक विविधता, पर्यावरणीय संतुलन और मानवीय गरिमा को समान रूप से स्थान दिया जाए। इस दृष्टि से इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में विस्थापन का विमर्श केवल साहित्यिक विषय नहीं, बल्कि समकालीन भारतीय समाज के गहन सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक यथार्थ को समझने का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम बनकर सामने आता है। वस्तुतः समकालीन हिंदी उपन्यास आधुनिक विकास के प्रचलित प्रतिमानों की आलोचनात्मक समीक्षा करते हुए मनुष्य-केंद्रित विकास-दृष्टि की स्थापना करते हैं, जो सामाजिक समानता, सांस्कृतिक अस्मिता और लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा को विकास का अनिवार्य आधार मानती है।

संदर्भ सूची :

1. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, 2009, पृ. 45-46
2. चित्रा मुद्गल, आवाँ, नई दिल्ली, सामयिक प्रकाशन, 2000, पृ. 118
3. गीतांजलि श्री, रेत समाधि, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 2018, पृ. 89-90
4. उदय प्रकाश, मोहनदास, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2006, पृ. 27
5. निर्मला जैन, साहित्य का समाजशास्त्र, नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, पृ. 52
6. रामविलास शर्मा, भारतीय साहित्य की भूमिका, नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृ. 101-102
7. Sen, Amartya. Development as Freedom. New Delhi: Oxford University Press, 1999, pp. 36–53.